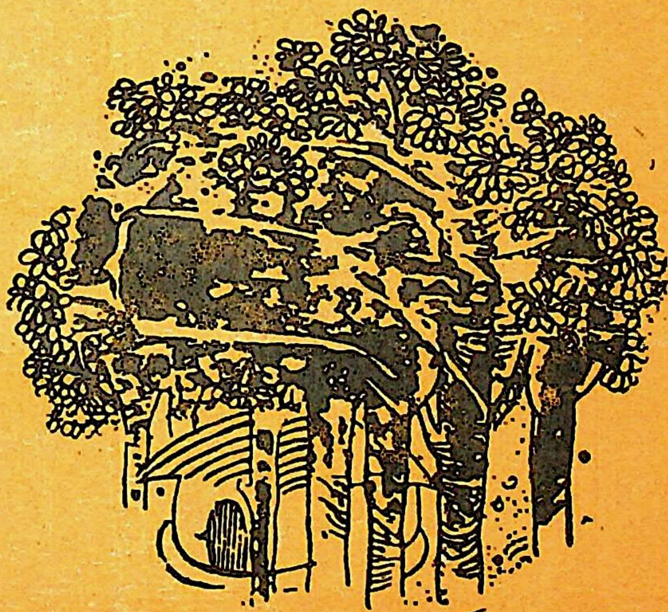
2.3

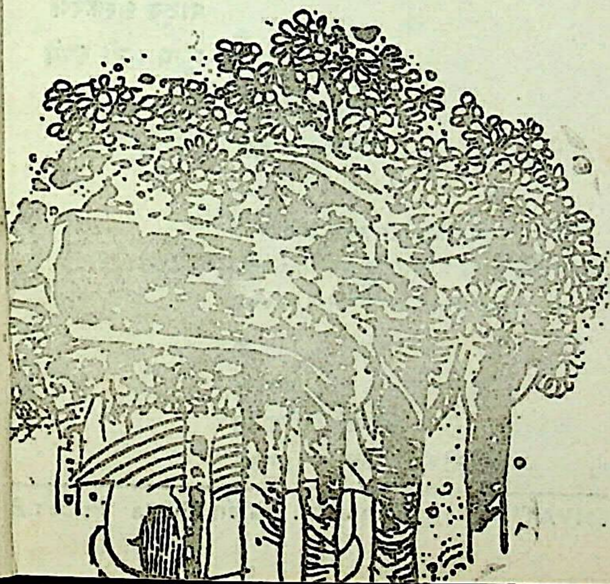
पंचवटी

मैथिलीशरण गुप्त



पंचवटी

मैथिलीशरण गुप्त



प्रकाशक
साकेत प्रकाशन
राष्ट्रकवि निवास
चिरगाँव, झाँसी

•

प्रथम साकेत संस्करण, १९७९
चतुर्थ संस्करण मार्च, १९८१

• पाठ्य संस्करण
मूल्य : दो रुपये

•

सर्वाधिकारी प्रमुख वितरक :
के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

•

मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस
मौजपुर, दिल्ली-११००५३

PANCHVATI (*Poetry*) by Maithilisharan Gupta Price : Rs. 2.00

॥ श्रीरामः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रिय पाठकगण,

आपका स्नेह, सहानुभूति और सहयोग मेरे साथ हैं। इसी आशा से मैंने अपने पूज्य पिताजी स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त की प्रसिद्ध कृति 'साकेत' के नाम पर 'साकेत प्रकाशन' का श्रीगणेश करने का साहस किया है।

इस योजना का प्रारम्भ पूज्य पिताजी की प्रकाशित रचनाओं से किया जा रहा है। शीघ्र ही उनकी अमुद्रित कृतियों को भी सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का उपक्रम कर रहा हूँ। साथ ही 'मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली' के प्रकाशन के लिए भी प्रयत्नशील हूँ।

हिन्दी संसार को यह विदित ही है कि सन् १९६४ में पूज्य दद्दा के साकेतवासी होने के बाद से ही मैं आज तक संघर्षों, कष्टों और अभावों से जूझता रहा हूँ। ऐसे समय में आपका आशीर्वाद ही मेरा सम्बल रहा है। पूज्य दद्दा के शब्दों में मैं तो मात्र यही निवेदन कर सकता हूँ :

सदय हृदय आत्मीय जनों से कितना कौन दुराव,
स्नेह-लेप ही क्या न पायेंगे तेरे उर के घाव।

मुझे इस बात का सन्तोष है कि मैं अपनी वृद्धा माँ के सामने ही पूज्य दद्दा की चिर स्मृति में यह प्रकाशन इस विश्वास और आस्था के साथ कर रहा हूँ कि :—

जैसे बीते काल, बिता देना ही होगा,
जो कुछ देगा दैव, हमें लेना ही होगा।

विनम्र
ऊर्मिलाचरण गुप्त

राष्ट्रकवि निवास
चिरगाँव



साकेत प्रकाशन, चिरगाँव के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित

श्री

पूर्वाभास

: १ :

पूज्य पिता के सहज सत्य पर,
वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके
पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे,
कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—
"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ।"

: २ :

सीता बोलीं कि "ये पिता की
आज्ञा से सब छोड़ चले,
पर देवर, तुम त्यागी बनकर
क्यों घर से मुहँ मोड़ चले ?"
उत्तर मिला कि "आर्य्ये, बरबस
बना न दो मुझको त्यागी,
आर्य्य-चरण-सेवा में समझो,
मुझको भी अपना भागी ॥"

: ३ :

"क्या कर्तव्य यही है भाई ?"
लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य्य, आपके प्रति इस जन ने
कब कब क्या कर्तव्य किया ?"
"प्यार किया है तुमने केवल !"
सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें
सफल सीप-सी भर आईं ।

श्रीगणेशाय नमः

पंचवटी

: १ :

चारु चंद्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चांदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बरतल[1] में।

पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोंकों से,
मानो झींम रहे हैं तरु भी
मंद पवन के झोंकों से॥

१. आकाश के नीचे।

: २ :

पंचवटी की छाया में है
सुंदर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर वीर निर्भीकमना[1],
जाग रहा यह कौन धनुर्धर,
जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध[2] योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है ॥

: ३ :

किस व्रत में है व्रती वीर यह
निद्रा का यों त्याग किये,
राजभोग्य के योग्य विपिन में
बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका
उस कुटीर में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका
तन है, मन है, जीवन है !

१. साहसी मन वाला २. कामदेव।

: ४ :

मर्त्यलोक - मालिन्य मेटने
स्वामि - संग जो आई है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह
कुटी आज अपनाई है।
वीर - वंश की लाज यही है
फिर क्यों वीर न हो प्रहरी,
विजन देश है, निशा शेष है,
निशाचरी माया ठहरी॥

: ५ :

कोई पास न रहने पर भी
जन - मन मौन नहीं रहता;
आप आपकी सुनता है वह
आप आपसे है कहता।
बीच बीच में इधर उधर निज
दृष्टि डालकर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है
धीर धनुर्धर नई नई—

: ६ :

क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह,
है क्या ही निस्तब्ध[1] निशा;
है स्वच्छन्द सुमन्द गन्धवह[2],
निरानन्द है कौन दिशा ?
बन्द नहीं, अब भी चलते हैं,
नियति-नटी के कार्य्य-कलाप,
पर कितने एकान्त भाव से,
कितने शान्त और चुपचाप !

: ७ :

है बिखेर देती वसुन्धरा
मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको
सदा सबेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी
सन्ध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम-तनु जिससे उसका
नया रूप छलकाता है।

१. शान्त २. गन्धवाली।

: ८ :

तरल तरल निज तुहिनकणों[1] से
हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे
साथ उन्हींसे रोती है!
अनजानी भूलों पर भी वह
अदय दण्ड तो देती है,
पर बूढ़ों को भी बच्चों-सा
सदय भाव से सेती है॥

: ९ :

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके,
पर है मानो कल की बात,
वन को आते देख हमें जब
आर्त्त अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब
अवधि पूर्ण होगी वन की।
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को,
इससे बढ़कर किस धन की!

१. ओस।

: १० :

और आर्य्य को ? राज्य-भार तो
वे प्रजार्थ हीं धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सबको भी
मानो विवश विसारेंगे।
कर विचार लोकोपकार का
हमें न इससे होगा शोक;
पर अपना हित आप नहीं क्या
कर सकता है यह नरलोक!

: ११ :

मझली माँ ने क्या समझा था;
कि मैं राजमाता हूँगी,
निर्वासित कर आर्य्य राम को
अपनी जड़ें जमा लूँगी।
चित्रकूट में किन्तु उसे ही
देख स्वयं करुणा थी करती;
उसे देखते थे सब, वह थी
निज को ही न देख सकती॥

: १२ :

अहो ! राजमातृत्व यही था,
हुए भरत भी सब त्यागी।
पर सौ सौ सम्राटों से भी
हैं सचमुच वे बड़भागी।
एक राज्य का मूढ़ जगत ने
कितना महा मूल्य रक्खा,
हमको तो मानो वन में ही
है विश्वानुकूल्य रक्खा॥

: १३ :

होता यदि राजत्व मात्र ही
लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको
छोड़ मार्ग लेते वन का ?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते हैं,
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे,
पूर्व-भाव ही भाते हैं॥

: १४ :

जो हो, जहाँ आर्य रहते हैं
वहीं राज्य वे करते हैं,
उनके शासन में वनचारी
सब स्वच्छन्द विहरते हैं।
रखते हैं सयत्न हम पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द;
वे पशु-पक्षी भाभी से हैं
हिले यहाँ स्वयमपि[1], सानन्द !

: १५ :

करते हैं हम पतित जनों में
बहुधा पशुता का आरोप;
करता है पशु वर्ग किन्तु क्या
निज निसर्ग[2] नियमों का लोप ?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की
जननी भी कह सकता हूं,
किन्तु पतित को पशु कहना भी
कभी नहीं सह सकता हूँ।

१. स्वयं २. प्रकृति।

: १६ :

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी
यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको,
पञ्चवटी छाया गहरी।

चारु चपल बालक ज्यों मिलकर
माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्य्या को
वे सब यहाँ रिझाते हैं!

: १७ :

गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी,
चंचल-जल कल-कल कर मानो
तान दे रहा है अब भी!
नाच रहे हैं अब भी पत्ते,
मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललककर
लालच भरे लहकते हैं॥

: १८ :

वैतालिक[1] विहंग भाभी के
सम्प्रति[2] ध्यान लग्न-से हैं,
नये गान की रचना में वे
कवि-कुल-तुल्य मग्न-से हैं।
बीच बीच में नर्तक[3] केकी
मानो यह कह देता है—
मैं तो प्रस्तुत हूँ देखें कल
कौन बड़ाई लेता है॥

: १९ :

आँखों के आगे हरियाली
रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिमकणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ-सौ नागरिक जनों की
वैसी विमल रम्य रुचि है?

१. चारण २. तत्काल, वर्तमान समय में ३. नृत्यकार।

: २० :

मुनियों का सत्संग यहाँ है,
जिन्हें हुआ है तत्व - ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे,
नित्य नये अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कण्टकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव गन्ध उन्हें उतना ही
अत्र - तत्र[1] सर्वत्र मिला।

: २१ :

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढ़ते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनिकन्याएँ यश गाती हैं
क्या ही पुण्य - पराक्रम के।
अहा ! आर्य्य के विपिन राज्य में
सुखपूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर
आकर पानी पीते हैं।

१. यहाँ-वहाँ।

: २२ :

गुह, निषाद, शवरी तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन में,
क्या ही सरल वचन रहते हैं
इनके भोले आनन में!
इन्हें समाज नीच कहता है
पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं
किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

: २३ :

कभी विपिन में हमें व्यजन का
पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, कन्द, मूल, फल—
आयोजनमय[1] भोजन है।
मनःप्रसाद चाहिये केवल,
क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद?
भाभी का आह्लाद अतुल[2] है,
मझली माँ का विपुल[3] विषाद!

१. संजोया हुआ २. जिसकी तुलना किसी से न हो सके ३. अधिक

: २४ :

अपने पौधों में जब भाभी
भर भर पानी देती हैं,
खुरपा लेकर आप निरातीं
जब वे अपनी खेती हैं।
पाती हैं तब कितना गौरव,
कितना सुख, कितना सन्तोष !
स्वावलम्ब की एक झलक पर
न्योछावर कुबेर का कोष ॥

: २५ :

सांसारिकता में मिलती है
यहाँ निराली निस्पृहता[1],
अत्रि और अनसूया की-सी
होगी कहाँ पुण्य-गृहता ?
मानो है यह भुवन भिन्न ही
कृत्रिमता का काम नहीं;
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी,
कहीं विकृति का नाम नहीं ॥

१. इच्छा रहित ।

: २६ :

स्वजनों को चिन्ता है हमको,
होगा उन्हें हमारा सोच;
यही एक इस विपिन-वास में
दोनों ओर रहा संकोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही
कभी नहीं सह सकता प्रेम,
बस, प्रत्यक्ष भाव में उसका
रक्षित-सा रहता है क्षेम।।

: २७ :

इच्छा होती है, स्वजनों को
एक बार वन ले आऊँ,
और यहाँ की अनुपम महिमा
उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को
वे घर की ही भाँति प्रसन्न,
मानो वन-विहार में रत हैं
वे वैसे ही श्रीसम्पन्न!

: २८ :

यदि बाधाएँ हुईं हमें तो
उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह
सहनशक्ति भी आई हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी
तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर में जाने पर भी वन की
स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह॥

: २९ :

नहीं जानतीं हाय ! हमारी
माताएँ आमोद - प्रमोद,
मिली हमें है कितनी कोमल,
कितनी बड़ी प्रकृति की गोद।
इसी खेल को कहते हैं क्या
विद्वज्जन जीवन - संग्राम ?
तो इसमें सुनाम कर लेना
है कितना साधारण काम !

: ३० :

बेचारी उर्मिला हमारे
लिए व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह, हम सब वन में
होंगे इतने सुख-भोगी !
मग्न हुए सौमित्र चित्र - सम
नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोलें तो यह क्या
अनुपम रूप, अलौकिक वेष !

: ३१ :

चकाचौंध-सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख,
एक हास्यवदनी बाला !
रत्नाभरण भरे अंगों में
ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ
जुगनू जगमग जगते थे !

: ३२ :

थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा
मानो छवि से छलक रही।
किन्तु दृष्टि थी जिसे खोजती
मानो उसे पा चुकी थी,
भूली-भटकी मृगी अन्त में
अपनी ठौर आ चुकी थी॥

: ३३ :

कटि के नीचे चिकुर-जाल[1] में
उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से
लोल कमल भौरों के साथ।
दायाँ हाथ लिये था सुरभित—
चित्र - विचित्र - सुमन - माला,
टाँगा धनुष की कल्पलता पर
मनसिज ने झूला डाला!

१. सिर के बालों का गुच्छा।

: ३४ :

पर सन्देह-दोल[1] पर ही था
लक्ष्मण का मन भूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में
भीतर ही था भूल रहा।
पड़े विचार-चक्र में थे वे,
कहाँ न जाने कूल रहा;
आज जागरित-स्वप्न-शाल[2] यह
सम्मुख कैसा फूल रहा!

: ३५ :

देख उन्हें विस्मित विशेष वह
सुस्मितवदनी ही बोली—
(रमणी की मूरत मनोज्ञ थी
किन्तु न थी सूरत भोली)
"शूरवीर होकर अबला को
देख सुभग, तुम थकित हुए;
संसृति की स्वाभाविकता पर
चंचल होकर चकित हुये!

१. सन्देहप्रद २. जाग्रत तथा स्वप्नावस्था रूपी शाल।

: ३६ :

प्रथम बोलना पड़ा मुझे हो,
पूछो तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता
होती क्या प्रतिभास[1] नहीं ?"
सँभल गये थे अब तक लक्ष्मण
वे थोड़े से मुसकाये,
उत्तर देते हुए उसे फिर
निज गम्भीर भाव लाये—

: ३७ :

"सुन्दरि, मैं सचमुच विस्मित हूं
तुमको सहसा देख यहाँ,
ढलती रात, अकेली अबला,
निकल पड़ी तुम कौन, कहाँ ?
पर अबला कहकर अपने को
तुम प्रगल्भता[2] रखती हो,
निर्ममता निरीह पुरुषों में
निस्सन्देह निरखती हो !

१. ज्ञात २. वाक्चातुरी ।

: ३८ :

पर मैं ही यदि परनारी से
पहले सम्भाषण[1] करता।
तो छिन जाती आज कदाचित्
पुरुषों की सुधर्मपरता।
जो हो, पर मेरे बारे में
बात तुम्हारी सच्ची है,
चण्डि, क्या कहूँ, तुमसे, मेरी
ममता कितनी कच्ची है॥

: ३९ :

माता, पिता और पत्नी की,
धन की, धाम-धरा की भी,
मुझे न कुछ भी ममता व्यापी
जीवन परम्परा की भी,
एक—किन्तु उन बातों से क्या,
फिर भी हूं मैं परम सुखी,
ममता तो महिलाओं में ही
होती है हे मंजुमुखी[2]॥

१. वार्तालाप २. सुन्दर मुख वाली।

: ४० :

शूरवीर कहकर भी मुझको
तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम
अपनी मुझे जताती हो!
भाषण-भंगी देख तुम्हारी
हाँ, मुझको भय होता है,
प्रमदे, तुम्हें देख वन में यों
मन में संशय होता है॥

: ४१ :

कहूँ मानवी यदि मैं तुमको
तो वैसा संकोच कहाँ?
कहूँ दानवी तो उसमें है
यह लावण्य कि लोच[1] कहाँ?
वनदेवी समझूं तो वह तो
होती है भोली-भाली,
तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो
हे रंजित[2] रहस्यवाली?"

१. कोमलता २. प्रसन्नचित्त करने वाली।

: ४२ :

"केवल इतना कि तुम कौन हो"
बोली वह—"हा निष्ठुर कान्त!
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या',
कैसे हो मेरा मन शान्त?
मुझे जान पड़ता है, तुमसे
आज छली जाऊँगी मैं;
किन्तु आ गई हूं जब तब क्या
सहज चली जाऊँगी मैं?

: ४३ :

समझो मुझे अतिथि ही अपना,
कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या?
पत्थर पिघले, किन्तु तुम्हारा
तब भी हृदय हिलेगा क्या?"
किया अधर-दंशन[1] रमणी ने
लक्ष्मण फिर भी मुसकाये,
मुसकाकर ही बोले उससे—
"हे शुभ मूर्तिमती माये!

१. दांत तले उँगली दबाना।

: ४४ :

तुम अनुपम ऐश्वर्य्यवती हो,
एक अकिंचन जन हूँ मैं,
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ,
वन-वासी, निर्धन हूँ मैं।"
रमणी ने फिर कहा कि "मैंने
भाव तुम्हारा जान लिया,
जो धन तुम्हें दिया है विधि ने
देवों को भी नहीं दिया!

: ४५ :

किन्तु विराग भाव धारणकर
बने स्वयं यदि तुम त्यागी,
तो ये रत्नाभरण वार दूँ
तुम पर मैं हे बड़भागी!
धारण करूँ योग तुम-सा ही
भोग-लालसा के कारण,
पर कर सकती हूँ मैं यों ही
विपुल-विघ्न-बाधा वारण॥

: ४६ :

इस व्रत में किस इच्छा से तुम
व्रती हुए हो, बतलाओ
मुझमें वह सामर्थ्य है कि तुम
जो चाहो सो सब पाओ।
धन की इच्छा हो तुमको तो
सोने का मेरा भू-भाग
शासक, भूप बनो तुम उसके,
त्यागो यह अति विषम विराग।।

: ४७ :

और किसी दुर्जय वैरी से
लेना है तुमको प्रतिशोध,
तो आज्ञा दो, उसे जला दे
कालानल-सा मेरा क्रोध।
प्रेम-पिपासु[1] किसी कान्ता के
तपस्कूप यदि खनते हो,
तो सचमुच ही तुम भोले हो,
क्यों मन को यों हनते हो?

१. प्रेम का प्यासा।

: ४८ :

अरे, कौन है, वार न देगी
जो इस यौवन-धन पर प्राण ?
खोओ इसे न यों ही हा हा
करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा
देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम
एक और अवसर दो दानि[1] !"

: ४९ :

लक्ष्मण फिर गम्भीर हो गये,
बोले—"धन्यवाद, धन्ये !
ललना - सुलभ सहानुभूति है
निश्चय तुममें नृपकन्ये !
साधारण रमणी कर सकती
है ऐसे प्रस्ताव कहीं ?
पर मैं तुमसे सच कहता हूँ,
कोई मुझे अभाव नहीं।।"

१. दान देने वाला।

: ५० :

"तो फिर क्या निष्काम तपस्या
करते हो तुम इस वय में ?
पर क्या पाप न होगा तुमको
आश्रम के धर्म्मक्षय[1] में ?
मान लो कि वह न हो, किन्तु इस
तप का फल तो होगा ही,
फिर वह स्वयं प्राप्त भी तुमसे
क्या न जायगा भोगा ही ?

: ५१ :

वृक्ष लगाने की ही इच्छा
कितने ही जन रखते हैं,
पर उनमें जो फल लगते हैं,
क्या वे उन्हें न चखते हैं ?"
लक्ष्मण अब हँस पड़े और यों
कहने लगे—"दुहाई है !
सेंतमेंत की तापस पदवी
मैंने तमसे पाई है ॥

१. धर्म का नाश।

: ५२ :

यों ही यदि तप का फल पाऊँ,
तो मैं इसे न चक्खूंगा,
तुमसे जन के लिए यत्न से
उसको रक्षित रक्खूंगा।"
हँसी सुन्दरी भी, फिर बोली—
"यदि वह फल मैं ही होऊँ,
तो क्या करो, बताओ? बस अब
क्यों अमूल्य अवसर खोऊँ?"

: ५३ :

"तो मैं योग्य पात्र खोजूंगा,
सहज परन्तु नहीं यह काम,"
"मैंने खोज लिया है उसको,
यद्यपि नहीं जानती नाम।
फिर भी वह मेरे समक्ष है,"
चौंके लक्ष्मण, बोले—"कौन?"
केवल "तुम" कहकर रमणी भी
हुई तनिक लज्जित हो मौन।

: ५४ :

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो,
कि मैं विवाहित हूँ बाले !"
"पर क्या पुरुष नहीं होते हैं
दो-दो दाराओं[1] वाले ?
नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन
हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर !"

: ५५ :

तो नारियाँ शास्त्र रचना कर
क्या बहुपति का करें विधान ?
पर उनके सतीत्व-गौरव का
करते हैं नर ही गुणगान।
मेरे मत में एक ओर हैं
शास्त्रों की विधियाँ सारी,
अपना अन्तःकरण आप है,
आचारों का सुविचारी।

१. भार्याओं (स्त्रियों)

: ५६ :

नारी के जिस भव्य-भाव का
साभिमान भाषी हूं मैं,
उसे नरों में भी पाने का
उत्सुक अभिलाषी हूं मैं।
वहुविवाह-विभ्राट[1], क्या कहूं,
भद्र, मुझको क्षमा करो;
तुम कुशला हो, किसी कृती को
करो कहीं कृतकृत्य, वरो॥"

: ५७ :

"पर किस मन से वरूं किसीको?
वह तो तुमसे हरा गया!"
"चोरी का अपराध और भी
लो यह मुझ पर धरा गया!"
"झूठा?" प्रश्न किया प्रमदा ने
और कहा—"मेरा मन हाय!
निकल गया है मेरे कर से
होकर विवश, विकल, निरुपाय!

१. बहुत-से विवाह के संकट या उत्पात।

: ५८ :

कह सकते हो तुम कि चन्द्र का
कौन दोष जो ठगा चकोर ?
किन्तु कलाधर ने डाला है
किरण – जाल क्यों उसकी ओर ?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो
जलता कैसे कूद पतंग ?
वाद्य-मुग्ध करके ही फिर क्या
व्याध पकड़ता नहीं कुरंग ?

: ५९ :

लेकर इतना रूप कहो तुम
दीख पड़े क्यों मुझे छलो ?
चले प्रभात वात[1] फिर भी क्या
खिले न कोमल कमल-कली ?
कहने लगे सुलक्षण लक्ष्मण—
"हे विलक्षणे, ठहरो तुम;
पवनाधीन पताका-सी यों
जिधर-तिधर मत फहरो तुम।

१. वायु।

: ६० :

जिसकी रूप-स्तुति करती हो
तुम आवेग युक्त इतनी,
उसके शील और कुल की भी
अवगति[1] है तुमको कितनी ?"
उत्तर देती हुई कामिनी
बोली अङ्ग शिथिल करके—
"हे नर, यह क्या पूछ रहे हो
अब तुम हाय ! हृदय हरके ?

: ६१ :

अपना ही कुल-शील प्रेम में
पड़कर नहीं देखतीं हम,
प्रेम-पात्र का क्या देखेंगी
प्रिय हैं जिसे लेखतीं हम ?
रात बीतने पर है अब तो
मीठे बोल बोल दो तुम;
प्रेमातिथि है खड़ा द्वार पर,
हृदय-कपाट खोल दो तुम।"

१. अवगत होने की अवस्था या भाव।

: ६२ :

"हा नारी ! किस भ्रम में है तू,
प्रेम नहीं यह तो है मोह;
आत्मा का विश्वास नहीं यह
है तेरे मन का विद्रोह !
विष से भरी वासना है यह,
सुधा-पूर्ण वह प्रीति नहीं;
रीति नहीं, अनरीति और यह
अति अनीति है, नीति नहीं।

: ६३ :

आत्म-वंचना[1] करती है तू
किस प्रतीति के धोखे से ?
झाँक न झंझा[2] के झोंके में
झुककर खुले झरोखे से !
शान्ति नहीं देगी तुझको यह
मृगतृष्णा करती है क्रान्ति,
सावधान हो, मैं पर नर हूँ,
छोड़ भावना की यह भ्रान्ति।"

१. अपने आपको धोखा देना २. आँधी।

: ६४ :

इसी समय पौ फटी पूर्व में,
पलटा प्रकृति-पटी का रंग;
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर
फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ,
प्राची की अब भूषा थी,
पञ्चवटी की कुटी खोलकर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!

: ६५ :

अहा! अम्बरस्था[१] ऊषा भी,
इतनी शुचि सस्फूर्ति न था,
अवनी की ऊषा सजीव थी,
अम्बर की-सी मूर्ति न थी।
वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़कर
गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुंह पर भी लज्जा
लेने लगी अपूर्व हिलोर॥

१. आकाश में स्थित।

: ६६ :

चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा
देख सामने सीता को,
कुमुद्वती-सी दबी देख वह
उन पद्मिनी पुनीता को।
एक वार ऊषा की आभा
देखी उसने अम्बर में,
एक वार सीता की शोभा
देखी विगताडम्बर[1] में॥

: ६७ :

एक वार अपने अंगों की
ओर दृष्टि उसने डाली,
उलझ गई वह किन्तु,—बीच में
थी विभूषणों की जाली।
एक वार फिर वैदेही के
देखे अंग अदूषण वे,—
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे—
रखते थे शुभ भूषण वे॥

१. निकट भविष्य में कृत्रिम [illegible]।

: ६८ :

हँसने लगे कुसुम कानन के
देख चित्र-सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डालों में
निरख मैथिली की मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं,
उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके
जुड़ आई भौंरों की भीर॥

: ६९ :

नाटक के इस नये दृश्य के
दर्शक थे द्विज[1] लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ[2] वे
समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने को
कोलाहल भी करते थे,
पञ्चवटी की रंगभूमि को,
प्रिय भावों से भरते थे॥

१. पक्षी २. डाल पर आसन लगाए हुए।

: ७० :

सीता ने भी उस रमणी को
देखा, लक्ष्मण को देखा,
फिर दोनों के बीच खींच दी
एक अपूर्व हास्य-रेखा।
"देवर, तुम कैसे निर्दय हो,
घर आये जन का अपमान,
किसके पर-नर तुम, उसके जो
चाहे तुमको प्राण-समान?

: ७१ :

याचक को निराश करने में
हो सकती है लाचारी,
किन्तु नहीं आई है आश्रय
लेने को यह सुकुमारी।
देने ही आई है तुमको,
निज सर्वस्व बिना संकोच,
देने में कार्पण्य[1] तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच?"

१. कृपणता।

: ७२ :

उनके अरुण चरण-पद्मों[1] में,
झुक लक्ष्मण ने किया प्रणाम,
आशीर्वाद दिया सीता ने—
"हों सब सफल तुम्हारे काम !"
और कहा—"सब बातें मैंने,
सुनी नहीं, तुम रखना याद;
कब से चलता है, बोलो, यह
नूतन शुक - रम्भा - संवाद ?"

: ७३ :

बोलीं फिर उस बाला से वे
सुस्मित पूर्वक वैसे ही—
"अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे
ये देवर हैं ऐसे ही।
घर में ब्याही बहू छोड़कर
यहाँ भाग आये हैं ये,
इस वय[2] में क्या कहूँ, कहाँ का
यह विराग लाये हैं ये !

१. चरण कमलों २. अवस्था।

: ७४ :

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो
मैं भी इन्हें मनाऊँगी,
रहो यहाँ तुम अहो! तुम्हारा
वर मैं इन्हें बनाऊँगी।
पर तुम हो ऐश्वर्य्यशालिनी
हम दरिद्र वन-वासी हैं;
स्वामी-दास स्वयं हैं हम निज,
स्वयं स्वामिनी-दासी हैं॥

: ७५ :

पर करना होगा न तुम्हें कुछ,
सभी काम कर लूंगी मैं,
परिवेषण[1] तक मृदुल करों से
तुम्हें न करने दूँगी मैं।
हाँ, पालित पशु-पक्षी मेरे
तंग करें यदि तुम्हें कभी,
उन्हें क्षमा करना होगा तो,
कह रखती हूं इसे अभी!"

१. भोजन आदि परोसने का काम।

: ७६ :

रमणी बोली—"रहे तुम्हारा
मेरा रोम रोम सेवी,
कहीं देवरानी यदि अपनी
मुझे बना लो तुम देवी!"
सीता बोलीं—"वन में तुम-सी
एक बहन यदि पाऊँगी,
तो बातें करके ही तुमसे
मैं कृतार्थ हो जाऊँगी॥"

: ७७ :

"इस भामा[1] विषयक भाभी को
अविदित भाव नहीं मेरे,"
लक्ष्मण को सन्तोष यही था
फिर भी थे वे मुंह फेरे।
बोल उठे अब—"इन बातों में
क्या रक्खा है हे भाभी!
इस विनोद में नहीं दीखती
मुझे मोद की आभा[2] भी॥"

१. क्रुद्ध स्त्री २. झलक या प्रतिबिम्ब।

: ७८ :

"तो क्या मैं विनोद करती हूं !"
बोलीं उनसे वैदेही,
"अपने लिए रूक्ष[1] हो तुम क्यों
होकर भी भ्रातृ-स्नेही ?
आज उर्मिला की चिन्ता यदि
तुम्हें चित्त में होती है,
कि "वह विरहिणी बैठी मेरे
लिये निरन्तर रोती है,—॥

: ७९ :

"तो मैं कहती हूं, वह मेरी
बहिन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुनकर पीछे भी
पावेगी सच्चा सन्तोष।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही
हम सब कुछ भर पाती हैं,
वे सर्वस्व हमारे भी हैं'
यही ध्यान में लाती हैं॥

१. रूखा, कठोर।

: ८० :

जो वर-माला लिए, आप ही,
तुमको वरने आई हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको
अर्पण करने आई हो,
मज्जागत[1] लज्जा तजकर भी,
तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव,
कर सकते हो तुम किस मन से
उससे भी ऐसा बर्ताव[2] ?"

: ८१ :

मुसकाये लक्ष्मण, फिर बोले—
"किस मन से मैं कहूं भला ?"
"पहले मन भी तो हो मेरे
जिससे सुख-दुख सहूँ भला !"
"अच्छा, ठहरो" कह सीता ने
करके ग्रीवा-भंग[3] अहा !
"अरे, अरे", न सुना लक्ष्मण का,
देख उटज की ओर कहा—

१. स्वाभाविक मञ्जरी २. व्यवहार ३. गर्दन हिलाकर ।

: ८२ :

"आर्यपुत्र, उठकर तो देखो,
क्या ही सु-प्रभात है आज,
स्वयं सिद्धि-सी खड़ी द्वार पर
करके अनुज-बधू का साज!"
क्षण भर में देखो रमणी ने
एक श्याम शोभा बाँकी!
क्या शस्यश्यामल[1] भूतल ने
दिखलाई निज नर-झाँकी!

: ८३ :

किंवा उत्तर पड़ा अवनी पर
कामरूप[2] कोई घन था,
एक अपूर्व ज्योति थी जिसमें,
जीवन का गहरापन था!
देखा रमणी ने, चरणों में—
नत लक्ष्मण को उसने भेंट,
अपने बड़े क्रोड़[3] में विधु-सा
छिपा लिया सब ओर समेट॥

१. सुन्दर हरी-भरी २. महादेव ३. गोद।

: ८४ :

सीता बोलीं—"नाथ, निहारो
यह अवसर अनमोल नया;
देख तुम्हारे प्राणानुज का
तप सुरेन्द्र भी डोल गया!
माना, इनके निकट नहीं है
इन्द्रासन की कुछ गिनती;
किन्तु अप्सरा की भी क्यों ये
सुनते नहीं नम्र विनती?

: ८५ :

तुम सबका स्वभाव ऐसा हो
निश्चल और निराला है,
और नहीं तो आई लक्ष्मी
कौन छोड़ने वाला है?
कुम्हला रही देख लो, कर में
स्वयंवरा[1] की वरमाला;
किन्तु कण्ठ देवर ने अपना
मानो कुण्ठित कर डाला॥"

१. जिसने स्वयंवर चुन लिया हो।

: ८६ :

मुसकाकर राघव ने पहले
देखा तनिक अनुज की ओर,
फिर रमणी की ओर देखकर
कहा अहा ! ज्यों बोले मोर—
"शुभे, बताओ कि तुम कौन हो
और चाहती हो तुम क्या ?"
छाती फूल गई रमणी की
क्या चन्दन है ! कुंकुम क्या !

: ८७ :

बोली वह— "पूछा तो तुमने
'शुभे, चाहती हो तुम क्या ?'
इन दशनों-अधरों के आगे
क्या मुक्ता हैं, विद्रुम[1] क्या ?
मैं हूँ कौन, वेश हो मेरा
देता इसका परिचय है,
और चाहता हूँ क्या, यह भी
प्रकट हो चुका निश्चय है ॥

१. मूंगा ।

: ८८ :

जो कह दिया उसे कहने में
फिर मुझको संकोच नहीं,
अपने भावी जीवन का भी
जी में कोई सोच नहीं।
मन में कुछ, वचनों में कुछ हो,
मुझमें ऐसी बात नहीं;
सहज[1] शक्ति मुझमें अमोघ है,
दाव, पेंच या घात नहीं॥

: ८९ :

मैं अपने ऊपर अपना ही
रखती हूं अधिकार सदा,
जहां चाहती हूं करती हूँ
मैं स्वच्छन्द विहार सदा।
कोई भय मैं नहीं मानती
समय-विचार करूँगी क्या ?
डरती हैं बाधाएँ मुझसे,
उनसे आप डरूँगी क्या ?

१. सरल, स्वाभाविक।

: ९० :

अर्द्धयामिनी होने पर भी
इच्छा हो आई मन में,
एकाकिनी घूमती - फिरती
आ निकली मैं इस वन में।
देखा आकर यहाँ तुम्हारे
प्राणानुज ये बैठे हैं,
मूर्ति बने इस उपल-शिला[1] पर
भाव-सिन्धु में पैठे हैं॥

: ९१ :

सत्य मुझे प्रेरित करता है,
कि मैं उसे प्रकटित कर दूं,
इन्हें देख मन हुआ कि इनके—
आगे मैं उसको धर दूं।
वह मन, जिसे अमर भी कोई
कभी क्षुब्ध[2] कर सका नहीं;
कोई मोह, लोभ भी कोई
मुग्ध, लुब्ध कर सका नहीं॥

१. पत्थर की चट्टान २. असन्तुष्ट।

: ९२ :

इन्हें देखती हुई आड़ में
बड़ी देर मैं खड़ी रही;
क्या बतलाऊँ, किन हावों में
किन भावों में पड़ी रही?
फिर मानो मन के सुमनों से
माला एक बना लाई,
इसके मिस अपने मानस की
भेंट इन्हें देने आई॥

: ९३ :

पर ये तो बस—'कहो, कौन तुम?'
करने लगे प्रश्न छूँछा,
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या?'
जैसा अब तुमने पूछा!
चाहे दोनों खरे रहें या
निकलें दोनों ही खोटे,
बड़े सदैव बड़े होते हैं;
छोटे रहते हैं छोटे॥

: : ९४ :

तुम सबका यह हास्य भले ही
करता हो मेरा उपहास,
किन्तु स्वानुभव, स्वविचारों पर
है मुझको पूरा विश्वास।
तो अब सुनो, बड़े होने से
तुममें बड़ी बड़ाई है,
दृढ़ता भी है, मृदुता भी है,
इनमें एक कड़ाई है॥

: ९५ :

पहनो कान्त, तुम्हीं यह मेरी
जयमाला - सी वरमाला,
बने अभी प्रासाद तुम्हारी
यह एकान्त पर्णशाला !
मुझे ग्रहण कर इस भामा के
भूल जायँगे ये भ्रू - भंग,
हेमकूट, कैलास आदि पर
सुख भोगोगे मेरे संग॥"

: ९६ :

मुसकाईं मिथिलेशनन्दिनो—
"प्रथम देवरानी, फिर सौत!
अंगीकृत है मुझे, किन्तु तुम
माँगो कहीं न मेरी मौत।
मुझे नित्य दर्शन भर इनके
तुम करती रहने देना,
कहते हैं इसको ही—अँगुली
पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना!"

: ९७ :

रामानुज ने कहा कि "भाभी,
है यह बात अलीक नहीं—
औरों के झगड़े में पड़ना
कभी किसीको ठीक नहीं।
पंचायत करने आई थीं
अब प्रपंच में क्यों न पड़ो,
वंचित हो होना पड़ता है
यदि औरों के लिए लड़ो!"

: ९८ :

राघवेन्द्र रमणी से बोले—
"बिना कहे भी वह वाणी,
आकृति से ही प्रकृति तुम्हारी
प्रकटित है हे कल्याणी!
निश्चय अद्भुत गुण हैं तुममें,
फिर भी मैं यह कहता हूँ—
गृहत्याग करके भी वन में
सपत्नीक मैं रहता हूँ॥

: ९९ :

किन्तु विवाहित होकर भी यह
मेरा अनुज अकेला है,
मेरे लिए सभी स्वजनों की
कर आया अवहेला है।
इसके एकांगी स्वभाव पर
तुमने भी है ध्यान दिया,
तदपि इसे ही पहले अपने
प्रबल प्रेम का दान दिया॥

: १०० :

एक अपूर्व चरित लेकर जो
उसको पूर्ण बनाते हैं,
वे ही आत्मनिष्ठ जन जग में
परम प्रतिष्ठा पाते हैं।
यदि इसको अपने उपर तुम
प्रेमासक्त बना लोगी,
तो निज कथित गुणों की सबको
तुम सत्यता जना दोगी।

: १०१ :

जो अन्धे होते हैं बहुधा
प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को
सब कुछ भूला पाते हैं!
इसके इसी प्रेम को यदि तुम
अपने वश में कर लोगी,
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ,
तुम भी परम धन्य होगी॥"

: १०२ :

भेद-दृष्टि से फिर लक्ष्मण को
देखा स्वगुण-गर्जनी ने;
वर्जन किया किन्तु लक्ष्मण की
अधरस्थिता तर्जनी ने।
बोले वे—"बस, मौन कि मेरे
लिए हो चुकी मान्या तुम,
यों अनुरक्ता हुईं आर्य्य पर
जब अन्यान्य वदान्या तुम।"

: १०३ :

प्रभु ने कहा कि "तब तो तुमको
दोनों ओर पड़े लाले,
मेरी अनुज-बधू पहले ही
बनी आप तुम हे बाले!"
हुई विचित्र दशा रमणी की
सुन यों एक एक की बात,
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के
और पवन के भिन्नाघात!

: १०४ :

कहा क्रुद्ध होकर तब उसने—
"तो अब मैं आशा छोड़ूँ?
जो सम्बन्ध जोड़ बैठी थी
उसे आप ही अब तोड़ूँ?
किन्तु भूल जाना न इसे तुम
मुझमें है ऐसी भी शक्ति,
कि झखमार करनी होगी
तुमको फिर मुझपर अनुरक्ति॥

: १०५ :

मेरे भृकुटि - कटाक्ष - तुल्य भी
ठहरेंगे न तुम्हारे चाप।"
बोले तब रघुराज—"तुम्हारा
ऐसा ही क्यों न हो प्रताप।
किन्तु प्राणियों के स्वभाव की
होती है ऐसी ही रीति,
पर-वशता हो सकती है पर
होती नहीं भीति में प्रीति॥"

: १०६ :

इतना कहकर मौन हुए प्रभु
और तनिक गम्भीर हुए,
सर सौमित्रि न शान्त रह सके,
उन्मुख वे वरवीर हुए—
"और इसे तुम भी न भूलना,
तुम नारी होकर इतना—
अहम्भाव जब रखती हो तब
रख सकते हैं नर कितना ?"

: १०७ :

झंकृत हुई विषम तारों की
तन्त्री - सी स्वतन्त्र नारी,—
"तो क्या अबलाएँ सदैव हों
अबलाएँ हैं—बेचारी ?
नहीं जानते तुम कि देखकर
निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी
प्रबलाएँ अपमान विचार !

: १०८ :

पक्षपात मय सानुरोध है
जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो
कामिनियों का वैर-विरोध।
होता है विरोध से भी कुछ
अधिक कराल हमारा क्रोध,
और, क्रोध से भी विशेष है,
द्वेष-पूर्ण अपना प्रतिशोध॥

: १०९ :

देख क्यों न लो तुम, मैं जितनी
सुन्दर हूँ उतनी ही घोर,
दीख रही हूँ जितनी कोमल
हूँ उतनी ही कठिन - कठोर !"
सचमुच विस्मय पूर्वक सबने
देखा निज समक्ष तत्काल—
वह अति रम्य रूप पल भर में
सहसा बना विकट - विकराल !

: ११० :

सबने मृदु मारुत का दारुण
झंझा - नर्तन देखा था,
सन्ध्या के उपरान्त तमी का
विकृतावर्तन देखा था!
काल-कीट कृत वयस-कुसुम का
क्रम से कर्तन देखा था,
किन्तु किसीने अकस्मात् कब
यह परिवर्तन देखा था!

: १११ :

गोल कपोल पलटकर सहसा
बने भिड़ों के छत्तों - से,
हिलने लगे उष्ण साँसों - से
ओंठ लपालप लत्तों - से!
कुन्दकली - से दाँत हो गये
बढ़ बराह की डाढ़ों - से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस
प्रकटे पूरी बाढ़ों - से॥

: ११२ :

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में
बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियों के आभूषण
थे मणि - मुक्ता - हीर जहाँ !
कंधों पर के बड़े बाल वे
बने अहो ! आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल !

: ११३ :

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही
उसके दीर्घ शरीर - सखा,
देख नखों को ही जँचती थी
वह विलक्षणी शूर्पणखा !
भय - विस्मय से उसे जानकी
देख न तो हिल - डोल सकीं,
और न जड़ प्रतिमा-सी वे कुछ
रुद्ध कण्ठ से बोल सकीं ।।

: ११४ :

अग्रज और अनुज दोनों ने
तनिक परस्पर अवलोका,
प्रभु ने फिर सीता को रोका,
लक्ष्मण ने उसको टोका
सीता सँभल गईं जो देखी
रामचंद्र की मृदु मुस्कान,
शूर्पणखा से बोले लक्ष्मण
सावधान कर उसे सुजान—

: ११५ :

"मायाविनि, उस रम्य रूप का
था क्या बस परिणाम यही ?
इसी भाँति लोगों को छलना,
है क्या तेरा काम यही ?
विकृत परंतु प्रकृत परिचय से,
डरा सकेगी तू न हमें,
अबला फिर भी अबला ही है
हरा सकेगी तू न हमें ॥

: ११६ :

आह्य सृष्टि-सुन्दरता है क्या
भीतर से ऐसी ही हाय!
जो हो, समझ मुझे भी प्रस्तुत,
करता हूँ मैं वहीं उपाय।
कि तू न फिर छल सके किसीको
मारूँ तो क्या नारी जान;
विकलांगी ही तुझे करूँगा,
जिससे छिप न सके पहचान!"

: ११७ :

उस आक्रमणकारिणी के झट
लेकर शाणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक-नाक काटे लक्ष्मण ने,
लिये न उसके पापी प्राण।
और कुरूपा होकर तब वह
रुधिर बहाती, बिललाती;
धूल उड़ाती आँधी ऐसी,
भगी वहाँ से चिल्लाती।

: ११८ :

गूँजा किया देर तक उसका
हाहाकार वहाँ फिर भी,
हुईं उदास विदेहनन्दिनी
आतुर एवं अस्थिर भी।
होने लगी हृदय में उनके
वह आतङ्कमयी शंका,
मिट्टी में मिल गई अन्त में
जिससे सोने की लंका !

: ११९ :

"हुआ आज अपशकुन सबेरे,
कोई संकट पड़े न हा !
कुशल करे कर्तार" उन्होंने
लेकर एक उसाँस कहा।
लक्ष्मण ने समझाया उनको
"आर्ये, तुम निःशंक रहो,
इस अनुचर के रहते तुमको
किसका डर है, तुम्हीं कहो॥

: १२० :

नहीं विघ्न-बाधाओं को हम
स्वयं बुलाने जाते हैं,
फिर भी वे यदि आ जाव तो
कभी नहीं घबराते हैं।
मेरे मत में तो विपदाएँ
हैं प्राकृतिक परीक्षाएँ,
उनसे वही डरें कच्ची हों
जिनकी शिक्षा - दीक्षाएँ।"

: १२१ :

कहा राम ने कि "यह सत्य है
सुख-दुख सब हैं समयाधीन,
सुख में कभी न गर्वित होवे
और न दुख में होवे दीन।
जब तक संकट आप न आवें
तब तक उनसे डर माने,
जब वे आ जावें तब उनसे
डटकर शूर समर ठाने॥"

: १२२ :

"यदि संकट ऐसे हों जिनको
तुम्हें बचाकर मैं झेलूं,
तो मेरी भी यह इच्छा है
एक वार उनसे खेलूं।
देखूं तो कितने विघ्नों की
वहन-शक्ति रखता हूं मैं,
कुछ निश्चय कर सकूं कि कितनी
सहन-शक्ति रखता हूं मैं।'

: १२३ :

"नहीं जानता मैं, सहने को
अब क्या है अवशेष रहा;
कोई कह न सकेगा, जितना
तुमने मेरे लिए सहा!'
"आर्य, तुम्हारे इस किंकर को
कठिन नही कुछ भी सहना,
असहनशील बना देता है
किन्तु तुम्हारा यह कहना॥"

: १२४ :

सीता कहने लगीं कि "ठहरो
रहने दो इन बातों को,
इच्छा तुम न करो सहने की
आप आपदाघातों को।
नहीं चाहिए हमें विभव - बल,
अब न किसीको डाह रहे,
बस, अपनी जीवन - धारा का,
यों ही निभृत प्रवाह बहे॥

: १२५ :

हमने छोड़ा नहीं राज्य क्या,
छोड़ी नहीं राज्य - निधि क्या ?
सह न सकेगा कहो, हमारी
इतनी सुविधा भी विधि क्या ?"
"विधि की बात बडों से पूछो
वे ही उसे मानते हैं,
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूं,
इसको सभी जानते हैं॥"

: १२६ :

यह कहकर लक्ष्मण मुसकाये,
रामचन्द्र भी मुसकाये;
सीता मुसकाईं, विनोद के
पुनः प्रमोद भाव छाये।
"रहो रहो पुरुषार्थ यही है,—
पत्नी तक न साथ लाये।
कहते कहते वैदेही के
नेत्र प्रेम से भर आये॥

: १२७ :

"चलो नदी को, घड़े उठा लो,
करो और पुरुषार्थ क्षमा,
मैं मछलियाँ चुगाने को कुछ
ले चलती हूँ धान, समा।"
घड़े उठाकर खड़े हो गये
तत्क्षण लक्ष्मण गद्गद-से,
बोल उठे मानो प्रमत्त हो
राघव महा मोद-मद से—

"तनिक देर ठहरो, मैं देखूं
तुम देवर - भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना
पाकर दुर्लभ हर्ष - हिलोर।"
यह कहकर प्रभु ने, दोनों पर
पुलकित होकर सुध - बुध भूल,
उन दोनों के ही पौधों के
बरसाये नव विकसित फूल।